*भारत के आर्थिक सुधार: अपूर्ण कार्यक्रमों के संबंध में चिंतन**

विजय जोशी

प्रस्तावना

गवर्नर पटेल जी और दोस्तो,

मेरे विचारों में भारतीय रिज़र्व बैंक का विशेष स्थान तब से रहा है जब मैं यहां चौंतीस वर्ष पूर्व विशेष परामर्शदाता के रूप में कार्य कर रहा था। वह समय मेरे जीवन में बेहद आनंद का समय था। बैंक में उस महत्वपूर्ण पद पर रहते हुए मैंने लोक नीति के बारे में जो कुछ सीखा वह कितनी ही विद्वता भरी पुस्तकों और लेखों से मिली सीख की तुलना में कहीं अधिक था। श्रीमान एल.के. झा के असाधारण रूप से उल्लेखनीय कार्यकाल का मिशन भी लोक नीति ही था। निस्संदेह वह स्वतंत्र भारत के अग्रगण्य लोक सेवकों में से थे और सचमुच बेहतरीन व्यक्ति थे। भारत सरकार और भारतीय रिज़र्व बैंक में उनके कार्यकाल के दौरान राज्य का व्यापक हस्तक्षेप हुआ करता था। किंतु, केंद्रीयकृत योजना तैयार किए जाने और मात्रात्मक नियंत्रणों के बहाने इन हस्तक्षेपों का सामना करने के मामले में वह बहुत बढ़िया अर्थशास्त्री और बेहद चतुर प्रशासक थे। परिणामस्वरूप, वह आर्थिक सुधारों के घटित होने से पहले ही उनके तरफदार बन गए थे। इसलिए, मैं उनके नाम से संचालित व्याख्यानमाला में भाषण करते हुए बहुत गौरवान्वित महसूस कर रहा हूं। इस अवसर पर बोलने के लिए आमंत्रित किए जाने हेतु गवर्नर पटेल जी को भी मैं धन्यवाद कहना चाहूंगा। इनके कार्यभार संभालने के बाद से भारतीय रिज़र्व बैंक ने बहुत से गंभीर प्रकार के दबावों का सामना किया है। उनके कुशाग्र-बुद्धि, रचनात्मक एवं कृतसंकल्प नेतृत्व के साथ ही साथ पक्के इरादे के चलते भारत की स्थिरता के स्तंभ के रूप में इस संस्था की छवि में निखार आया है।

आज का मेरा व्याख्यान समय सीमाओं से बंधा ही रहने वाला है। बात ऐसी है कि एक समय राष्ट्रपति ट्रुमैन अपने आर्थिक सलाहकारों से इतने खिन्न थे और उन्होंने कहा : 'मेरे सभी अर्थशास्त्री कहते हैं कि 'एक तरफ ऐसा है' तो 'दूसरी तरफ वैसा है'। मुझे एक तरफ की पक्की बात करने वाला अर्थशास्त्री चाहिए ! "आज की समय सीमा के मद्देनजर, मैं एक तरफ की ही पक्की बात करने वाला अर्थशास्त्री बनूंगा। बारीकियों एवं विशिष्टताओं के लिए आप मेरी हाल की किताब, *'इंडियाज लॉन्ग रोड - द सर्च फॉर प्रॉस्पेरिटी'* का अवलोकन कर सकते हैं, जिसमें इस व्याख्यान के विषय को अधिक गहनता और विस्तार पूर्वक दर्शाया गया है।[1]

इस बात में कोई संशय नहीं है कि पिछले तीन दशकों में भारत का कार्यनिष्पादन बहुत बढ़िया रहा है, और मैं देश की सफलता का गान आसानी से घंटा भर तक कर सकता हूं। हालांकि, मैं आज के व्याख्यान में सफलता के पात्र के आधे भरे होने के स्थान पर आधे खाली रहने पर अपना ध्यान केंद्रित करूंगा। भारत में अभी भी इसकी एक बिलियन से अधिक की आबादी का एक चौथाई हिस्सा अत्यधिक गरीबी में जीवन बिता रहा है, और इसके दो तिहाई लोग इतने गरीब हैं जिनके पास संतोषप्रद जीवन जीने के लिए बहुत सीमित अवसर उपलब्ध हैं। भारत को अगले दो दशकों में उच्च-आय वाला देश बनने के लिए, समय के दौरान, बहुत तीव्र और समावेशी आर्थिक वृद्धि हासिल करना होगा। 'बहुत-तीव्र वृद्धि' से मेरा आशय वर्ष में 8 प्रतिशत या अधिक की वृद्धि से है। 'समावेशी वृद्धि' कहने का मेरा तात्पर्य ऐसी वृद्धि से है जिसमें सभी लोग व्यापक रूप से साझेदार हों। इस कार्य की दुरूहता को संयत कर देने वाले इस तथ्य पर विचार करते हुए समझा जा सकता है कि दुनिया भर के 200 देशों में से आधे दर्जन से भी कम देशों ने ही दो या अधिक दशकों तक निरंतर बहुत-तीव्र एवं समावेशी वृद्धि हासिल किया है, और उनमें से लगभग सभी तीव्र-वृद्धि की लघु दौड़ में तानाशाही के अधीन थे। क्या *लोक-तांत्रिक* भारत चीन या दक्षिण कोरिया की तरह कार्य कर सकता है ? यह एक जबर्दस्त सवाल है। हालांकि, वर्तमान संदर्भ यह है कि भारत की वृद्धि दर में वृद्धि के विपरीत मंदी के संकेत दिखाई दिए हैं। कुछ अस्थायी और विशेष कारक इसमें शामिल हैं, किंतु मुद्दा यह भी है कि 'आंशिक सुधार मॉडल', जो 1991 से कार्यशील है, के परिणाम कमी को दर्शाने वाले रहे हैं। भारत में उत्पादकता

* 11 दिसंबर 2017 को भारतीय रिज़र्व बैंक, मुंबई में, पंद्रहवीं एल.के. झा व्याख्यानमाला के तहत प्रोफेसर विजय जोशी, ऐमिरेट फेलो, मर्टन कॉलेज, ऑक्सफोर्ड का भाषण। इसमें व्यक्त किए गए मतों और विचारों का संबंध सिर्फ लेखक से है।

[1] विजय जोशी (2016), *इंडियाज लॉन्ग रोड - द सर्च फॉर प्रॉस्पेरिटी,* पेंग्विन रेंडम हाउस, नई दिल्ली, एवं ऑक्सफोर्ड प्रेस, न्यूयॉर्क देखें।

वृद्धि के इंजन को पूरी क्षमता से कार्यशील बनाए रखने के लिए तेजी से मौलिक सुधारों के एक और दौर की तत्काल जरूरत है।

अपेक्षित सुधारों की सूची लंबी है किंतु मेरे विचार से राज्य, बाजार और निजी क्षेत्र के बीच संतुलन कायम रखने के लिए उनमें एक साझा विचार होना चाहिए। थोड़े उदारीकरण के बाद भी भारत पुराने तरीके के समाजवाद से पूरी तरह उबर नहीं पाया है, जिसके अंतर्गत उत्पादन के माध्यमों पर राज्य का स्वामित्व होने के प्रिय विचार, और बाजार के परिचालनों में राज्य के स्वेच्छाचारी हस्तक्षेप की विशेष प्रवृत्ति शामिल है। हमें आधुनिक सामाजिक लोकतंत्र में तब्दील होने के लिए अभी काम करना बाकी है। इससे, राज्य के अपने मूलभूत कार्य प्रतिस्पर्धी ढंग से पूर्ण करने के साथ निजी स्वामित्व और बाजार कार्यप्रणाली पर अधिक निर्भरता की ओर गमन करते हुए *साझा* संपन्नता के समाजवादी दबाव, और व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा अधिकारों पर जोर दिए जाने के स्वतंत्र-प्रजातांत्रिक विचारों का पता चलता है। इन मूलभूत कार्यों के अंतर्गत समष्टि आर्थिक स्थिरता, चुस्त विनियमन, बाजार की विफलताओं में सुधार, आय का दक्षतापूर्वक पुनर्वितरण, और लोक सेवा की प्रभावी आपूर्ति शामिल हैं।

सामाजिक-लोकतांत्रिक कार्यक्रम आर्थिक गतिविधि के विभिन्न क्षेत्रों के बारे में क्या संकेत देता है ? समय-सीमा को देखते हुए मुझे चयनात्मक होना होगा। मैं उन पांच क्षेत्रों का जिक्र करूंगा, जिनमें लंबी अवधि तक बहुत-तीव्र और समावेशी वृद्धि हासिल करने के लिए मौलिक सुधार किए जाने की आवश्यकता है : राज्य का स्वामित्व, रोजगार सृजन, गहन राजकोषीय समायोजन, शिक्षा की गुणवत्ता, और सरकार की क्षमता।

I. राज्य का स्वामित्व

भारत में स्वतंत्रता के उपरांत, और विशेषरूप से श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्री-काल में प्रमुख रूप से राजनीतिक कारणों से, बहुत सी आर्थिक गतिविधियों का राष्ट्रीयकरण किया गया। इसके अलावा, राज्य के स्वामित्व को बाजार की विफलताओं में सुधार करने, निवेश-योग्य अधिशेष में वृद्धि करने, और व्यापक सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करने की कोशिश के उपाय के रूप में न्यायसंगत ठहराया गया। इसके परिणाम स्पष्ट रूप से असंतोषप्रद रहे हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के प्रबंधकर्ताओं के लिए विविध प्रकार के लक्ष्य निर्धारित किए गए, और इनको राज्य के बहुल वित्तीय स्रोतों का सहारा प्रदान किया गया। इसके अंतर्गत नवोन्मेष करने, लागत में कटौती करने और उपभोक्ताओं की पसंद-नापसंद पर प्रतिक्रिया देने को प्रोत्साहित करने या दण्डित करने के प्रावधान नहीं थे। इसके साथ ही, अन्वेषण ऐजेंसियों की ओर से अनुत्पादक खोज-बीन किए जाने की भरमार थी, जिसके कारण प्रबंधक जोखिम विमुख होने लगे और शांतिपूर्ण ढंग से जीवन बसर करने की चाहत रखने लगे। राष्ट्रीयकृत उद्योगों और सरकार के बीच के संदेहपूर्ण संबंधों के चलते दक्षता से भी समझौता किया गया, जिसके कारण परिचालनगत मुद्दों के साथ ही साथ बोर्ड की नियुक्तियों में भी राजनीतिक हथ-कंड़े अपनाए जाने लगे। सरकार के साथ 'समझौता पत्र' के माध्यम से सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के पर्यवेक्षण से उत्पादकता में वृद्धि नहीं हुई है। निजी क्षेत्र को अनुमति दिए जाने से एक सीमा तक इसमें सुधार हुआ है। इसके बाद भी, सफलता पूर्णता से परे रही है। ऐसा होने का कारण यह है कि तार्किक प्रतिस्पर्धा के लिए यह आवश्यक है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों और निजी कंपनियों के लिए सरकार समान शर्तें निर्धारित करे, जिसके अंतर्गत सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का निष्पादन अपेक्षानुरूप नहीं होने पर उनका समाप्त हो जाना भी शामिल हो। आश्चर्य की बात नहीं है कि सरकार इस मार्ग को अपनाने के लिए तैयार नहीं है।

इसके परिणाम हाल ही के *सार्वजनिक उद्यम सर्वेक्षण,* में देखे जा सकते हैं, जिसे पढ़ना[2] अवसाद भाव से भर देता है। 2015/16 में 244 केंद्रीय गैर-वित्तीय सार्वजनिक क्षेत्र उद्यमों में से एक तिहाई ने घाटा उठाया; और घाटा उठाने वाले 78 उद्यमों में से आधे से अधिक लगातार तीन वर्षों तक घाटे में रहे। एयर इंडिया और दो दूरसंचार कंपनियों सहित बहुत से उद्यम ऐसे हैं जो हमेशा से घाटे में रहे हैं; और कोल इंडिया जैसी कुछ लाभप्रद कंपनियां भी हैं, जिनका निष्पादन कार्यदक्षता की वजह से नहीं बल्कि एकाधिकारात्मक स्थिति के चलते अच्छा रहा है। समग्र रूप से, केंद्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की लाभप्रदता में पिछले 10 वर्षों के दौरान निरंतर गिरावट आई है। केंद्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के अलावा राज्य के स्वामित्व वाले लगभग 1000 सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम भी हैं, जिनमें से दो तिहाई घाटे में चल रहे हैं, जिनमें विद्युत वितरण करने वाली कर्जखोर (जोंबी) कंपनियां भी शामिल हैं। केंद्रीय और राज्य के नियंत्रण वाले सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का समग्र घाटा वार्षिक रूप से सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के लगभग एक प्रतिशत के बराबर होता है।

[2] भारत सरकार का *लोक उद्यम सर्वेक्षण, 2015/16, खंड I* देखें।

अब तक, आनुक्रमिक भारतीय सरकारें 51 प्रतिशत स्वामित्व पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देती रही हैं और निजीकरण (हालांकि ऐसा प्रतीत होता है कि अंतत: एयर इंडिया की नीति-विषयक बिक्री के बारे में विचार किया जा रहा है) के बारे में सिर्फ बातें ही करती रही हैं। होने वाली अधिकांश बिक्रियों ने तथाकथित 'विनिवेश', अर्थात राज्य के स्वामित्व वाली कंपनियों के लघु हिस्सों की बिक्री का रूप ले लिया है। निजीकरण के विपरीत विनिवेश किए जाने से प्रबंधकीय प्रोत्साहनों एवं स्वायत्ता में परिवर्तन के पूरे फायदे नहीं मिल पाते। सरकार द्वारा नियंत्रण नहीं छोड़ने की स्थिति में बिक्री मूल्य पर विपरीत प्रभाव पड़ना भी अवश्यंभावी है। इसका तात्पर्य यह है कि अनुषंगियों की बिक्री निश्चित रूप से अहितकर मूल्यों पर की गई है। यही वह समय है जब सरकार ने निजीकरण के बड़े कार्यक्रम को थामा हुआ है, कम से कम सार्वजनिक क्षेत्र के उन उद्यमों के संबंध में जो घाटा उठा रहे हैं या मामूली लाभ में कार्य कर रहे हैं। यह विशेषरूप से व्यापार योग्य सामानों के उद्योग पर प्रयोज्य है जहां घरेलू और अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिता के कारण एकाधिकारात्मक मूल्यन किए जाने और उपभोक्ताओं के शोषण को रोका जा सकता है। निजीकरण से न सिर्फ उत्पादकता में उच्चतर वृद्धि होने की संभावना है बल्कि सार्वजनिक क्षेत्र के अनर्जक उद्यमों की बिक्री किए जाने से राज्य के स्वामित्व में भविष्य में होने वाले प्रतिलाभों की तुलना में अधिक राजकोषीय लाभ होने की भी गुंजाइश है। सरकार द्वारा इस लाभ को सामाजिक रूप से लाभप्रद उन गतिविधियों में प्रयोग में लाया जा सकता है जिन्हें निजी क्षेत्र सामान्यत: टालता है, जैसे ग्रामीण सड़कों का निर्माण और सिंचाई सुविधाओं का विकास।[3] जिन गैर-व्यापार योग्य उद्योगों में प्रतिस्पर्धा लाया जाना मुश्किल है, वहां पर निजीकरण का मामला उतना स्पष्ट नहीं है। किंतु, मेरे विचार से भारत के व्यापार योग्य क्षेत्रों में निजीकरण को बढ़ावा देने का मामला निर्णायक अवस्था में है।

क्या बैंकिंग का मामला विशिष्ट है ? मैं ऐसा नहीं मानता। बैंकिंग प्रतिस्पर्धा की सहज अनुगामी है। इसमें कोई 'नैसर्गिक एकाधिकार' नहीं होता है, इसलिए यह राज्य के स्वामित्व का प्राकृतिक विषय नहीं है। बेशक, इस विचार में कुछ सच्चाई है कि राज्य के स्वामित्व वाले बैंक जमाकर्ताओं में भरोसा जगाते हैं, जिसके माध्यम से वित्तीय बचत को प्रोत्साहन मिलता है और खातों से तीव्र-निकासी की संभावना कम होती है। हालांकि, भारत में इस विचार की संभावना को राज्य के स्वामित्व की कमियों द्वारा दृढ़तापूर्वक समाप्त कर दिया गया है। इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक (पीएसबी) की गुणवत्ता दोयम दर्जे की है। वैश्विक ऋण संकट के बाद से स्थिति और खराब हुई है : सार्वजनिक क्षेत्रों के दबावपूर्ण अग्रिम अब कुल अग्रिमों के लगभग 16 प्रतिशत के तुल्य हैं, जबकि निजी बैंकों के संदर्भ में यह लगभग 4.5 प्रतिशत है (सारणी 1 देखें)। अन्य वित्तीय और उत्पादकता संकेतकों के बारे में भी यही बात प्रयोज्य है। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों का खराब कार्य निष्पादन उनके अभिशासन के तरीकों का परिणाम है, जैसा कि बैंक अभिशासन से संबंधित नायक समिति की रिपोर्ट में भी विस्तार पूर्वक उल्लेख किया गया है।[4] इसके बदले में, खराब अभिशासन की उत्पत्ति सरकार द्वारा बैंक के बोर्डों को कमजोर किए जाने से होती है। भारत की राजनीतिक संस्कृति के अंतर्गत इस स्थिति में सुधार होना असंभव साबित हो चुका है।

जैसा कि यहां उपलब्ध श्रोता जानते हैं, बैंकिंग समाधान अध्यादेश से मजबूती प्राप्त भारतीय रिज़र्व बैंक ने बैंकों को निदेशित किया है वे 12 बड़े खातों हेतु कि दिवालिया और शोधन अक्षमता संहिता के तहत दिवालिया के आवेदन प्रस्तुत करें, जो अनर्जक आस्तियों के लगभग 25 प्रतिशत के तुल्य हैं। रिज़र्व बैंक ने बहुत से अन्य खातों की भी पहचान की है जिनका अगर सीमित समय-सीमा के अंदर समाधान नहीं किया जाता है तो उन पर भी इसी तरह की कार्रवाई की जाएगी। इसके अलावा, भारत सरकार ने पुनर्पूंजीकरण के एक बड़े कार्यक्रम की भी घोषणा की है, जो सरकारी क्षेत्र के बैंकों की पूंजी पर्याप्तता बहाल करने की दिशा में काफी कारगर हो सकता है। यह प्रक्रिया बैंकों द्वारा उनके तुलन-पत्र परिमार्जन के दौरान महत्वपूर्ण 'हेयरकट' के रूप में हो सकती है।[5]

यह बहुत प्रशंसनीय बात है। किंतु सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में कमजोर अभिशासन की मूल समस्या पुनर्पूंजीकरण के बाद भी रहेगी, और भविष्य में इसके पहले जैसे होने की

[3] यू. कपिला, *इंडियन इकोनॉमी सिन्स इन्डिपेंडेंस* (21वां संस्करण), अकेडमिक फाउंडेशन; एवं विजय जोशी (पूर्व उल्लिखित कार्य/पुस्तक में), अध्याय 7 में विजय केलकर (2010), "ऑन स्ट्रैट्जीज फॉर डिसइन्वेस्टमेंट एंड प्राइवेटाइजेशन" देखें।

[4] भारतीय रिज़र्व बैंक (2014), *बैंक बोर्डों के अभिशासन की समीक्षा हेतु गठित विशेषज्ञ समिति की रिपोर्ट* (अध्यक्ष : डॉ. पी.जे. नायक)।

[5] सार्वजनिक क्षेत्र की बैंकिंग के अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के विश्लेषण के लिए *प्रोफेसर डी.टी. लकड़वाला स्मृति व्याख्यानमाला, 17 नवंबर के अंतर्गत* वाई.वी. रेड्डी (2017), *"सार्वजनिक बैंकिंग का भविष्य"* देखें।

बहुत संभावना रहेगी। इसलिए बैंक अभिशासन का मूलभूत सुधार अनिवार्य हो गया है, और इस संदर्भ में निजीकरण की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका है। प्रथमत:, सार्वजनिक क्षेत्र के कुछ अव्यवहार्य बैंकों को 'सीमित' बैंक बनाया जाना चाहिए। दूसरा, सार्वजनिक क्षेत्र के कुछ व्यवहार्य बैंकों के अभिशासन में राज्य की नियंत्रणकारी हिस्सेदारी सहित मौलिक सुधार किया जाना चाहिए। तीसरा, सार्वजनिक क्षेत्र के कुछ व्यवहार्य बैंकों का शीघ्रतापूर्वक निजीकरण किया जाना चाहिए। बैंकिंग प्रणाली को आधुनिक बनाने और इस प्रणाली की समग्र दक्षता में सुधार लाने के लिए भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के बड़े बैंकों से प्रतिस्पर्धा के लिए स्पष्टरूप से निजी क्षेत्र के बड़े बैंकों की आवश्यकता है। प्रथम अनिवार्यता बैंक राष्ट्रीयकरण अधिनियम को निरस्त करना और सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों को कंपनी अधिनियम के अधीन लाना होगी। ऐसा किए जाने से सरकार को अपनी पसंद के अनुसार किसी भी हद तक स्वामित्व घटाने की स्वतंत्रता मिल जाएगी। निजीकरण करने, *अर्थात्* नियंत्रण सौंपने के लिए, सरकार को व्यावहारिक रूप में अपने हिस्से को 25 प्रतिशत या उससे भी कम स्तर पर ले जाना होगा। यद्यपि, संक्षिप्त संक्रमण अवधि के लिए सरकार अपने तथाकथित 'सोने के अंडे/गोल्डन शेयर' अपने पास रख सकती है। कहने की जरूरत नहीं है कि निजी बैंक भी लापरवाह और दोषी हो सकते हैं, इसलिए सरकारी और निजी -दोनों तरह के बैंकों का कड़ाई से विनियमन किए जाने की जरूरत होगी। ऐसा करने में, भारत को सामान्य रूप से सर्वोत्तम अंतरर्राष्ट्रीय प्रथाओं का पालन करना होगा।

सरकार और सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों को अलग-अलग रखने के पूर्व के सभी प्रयास निरर्थक रहे हैं। बैंकिंग प्रणाली की बेहद दबावपूर्ण वर्तमान परिस्थितियों के चलते सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों के खस्ता-हाल होने के प्रति जनता सचेत हो गई है। यह स्थिति आमूलचूल परिवर्तन लाने का स्वर्णिम अवसर उपलब्ध करा रही है। वर्तमान संकटपूर्ण स्थिति को व्यर्थ नहीं होने देना चाहिए।

II. रोजगार सृजन

बहुत से टीकाकार अब 'रोजगार' को देश के समक्ष मुख्य दीर्घावधिक चुनौती मानते हैं। मूल समस्या 'अच्छे रोजगारों' की कमी की है, जिनकी श्रम उत्पादकता अधिक हो और इससे अच्छी आय प्राप्त हो। इस तरह के रोजगार व्यापकरूप से संगठित क्षेत्र में पाए जाते हैं, जबकि अधिकांश श्रमिक असंगठित क्षेत्र में फंसे हुए हैं। मैं अब इस बात पर अपना ध्यान केंद्रित करता हूं कि *कम-कुशल* श्रमिकों के लिए संगठित क्षेत्र में रोजगार वृद्धि कैसे की जाए। मैं *कम-कुशल* श्रमिकों पर जोर दे रहा हूं क्योंकि भारत एक बड़ी छलांग लगाकर *उच्च-कुशल* अर्थव्यवस्था में तब्दील नहीं हो सकता है। अधिकांश श्रमिकों के लिए शीघ्रतापूर्वक उच्च-प्रौद्योगिकी वाले रोजगार की चाहत करना चांद मांगने जैसा होगा। आशावादी मान्यताओं के साथ भी, भारत की आधी श्रम शक्ति आज से शुरू करके 10 वर्षों के बाद भी सिर्फ उच्चतर माध्यमिक या उससे भी कम स्तर तक ही शिक्षित होगी; और श्रम शक्ति का एक तिहाई हिस्सा सिर्फ प्राथमिक शिक्षा या उससे कम स्तर तक ही शिक्षित होगी।[6] फंतासी की दुनिया में नहीं बल्कि वास्तविकता के धरातल में देखा जाए तो, असंगठित क्षेत्र में पहले से विद्यमान या जनांककीय वृद्धि के कारण श्रम शक्ति में शामिल होने वाले अल्प शिक्षित और कम कुशल लोगों के लिए करोड़ों की संख्या में उत्पादक रोजगार सृजन के लिए भारत मजबूर है। कहने की जरूरत नहीं है कि भारत की पूंजी एवं कुशलता की प्रधानता वाली गतिविधियों में तेजी से वृद्धि हो सकती थी और इसे जारी रहना चाहिए। ये गतिविधियां अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से प्रतिस्पर्धी होनी चाहिए, इनमें से बहुत सी गतिविधियां प्रतिस्पर्धी हैं भी। किंतु, भारत में समावेशी प्रकार की *अतिरिक्त* वृद्धि की तत्काल जरूरत है, जो संगठित क्षेत्र में अपेक्षाकृत कम-कुशलता वाले रोजगार में विस्तार के माध्यम से ही संभव हो सकती है। प्रश्न है कि श्रम प्रधान उत्पादों के लिए मांग कहां से आएगी ? इसका उत्तर है कि इस मांग का कुछ हिस्सा भारत के विशाल आंतरिक बाजार से आएगा और कुछ हिस्सा वैश्विक बाजार, जो बहुत विशाल है, से भी आएगा। रोजगार वृद्धि में श्रम-प्रधान वस्तुओं के निर्यात की भूमिका प्रमुख होने वाली है। भारत में स्वचालित ढंग से यह अवस्था समाप्त होने के लिए अभी एक या डेढ़ दशक का समय शेष है। रोजगार की समस्या के समाधान के लिए किसी और जादुई समाधान का दावा करना व्यर्थ है।

रोजगार की समस्या का समाधान कैसे किया जाए? तीव्र वृद्धि होना अपने आप में समाधान का हिस्सा होती है। मजदूरी में छूट उपयोगी भूमिका का निर्वाह कर सकती है। यह स्वत: स्पष्ट है कि हमें आधारभूत संरचना एवं ऋण बाधाओं, भूमि-अधिग्रहण की बाधाओं, कौशल की बाधाओं, तथा 'कारोबार करने की सहूलियत' में नौकरशाही की अनेक और दुष्कर अड़चनों को दूर करना होगा, जो फर्मों की वृद्धि को रोकती हैं, विशेषरूप से उन छोटी फर्मों की वृद्धि को जो संख्या की दृष्टि से उद्योग और सेवाओं में प्रभुत्व रखती हैं। निर्यात प्रोत्साहन के गंभीर कार्यक्रम की भी जरूरत है, ऐसा

[6] विश्व बैंक (2011), *दक्षिण एशिया में अधिक तथा बेहतर रोजगार* देखें।

विशेषरूप से भारत को वैश्विक मूल्य शृंखला में शामिल होने के लिए आवश्यक है। कारोबारी सुविधा, व्यापार उदारीकरण (एक पक्षीय तथा क्षेत्रीय व्यापार समझौतों के माध्यम से), एवं वास्तविक तटीय आर्थिक जोनों, जहां पर फर्मों को मुक्त व्यापार परिस्थितियां उपलब्ध होती हैं, का भी सक्रियता पूर्वक अनुसरण करना होगा। हालांकि, इनमें से किसी भी नीति के महत्व को कम करके बताए बिना, मैं आज रोजगार प्रधान वृद्धि को सहारा प्रदान करने के लिए नीतिगत व्यवस्था के दो अन्य पहलुओं पर अपना ध्यान केंद्रित करना चाहता हूं।

पहला पहलू है श्रम बाजार सुधार[7]। संगठित क्षेत्र में कम-कुशलता वाले श्रमिकों की मांग कमजोर होने के पीछे प्रमुख कारण भारत के श्रम कानून और उनका विनियमन है, जो संसार के सबसे कठोर प्रकार के हैं। उनका अधिनियमन वर्षों पहले सदेच्छा पूर्वक किया गया था, किंतु वे पूरी तरह से रोजगार-विनाशक और श्रम-विरोधी साबित हुए हैं। साधारण रूप से, वे सिर्फ संगठित क्षेत्र के वर्तमान श्रमिकों, जो अल्प संख्यक हैं, के हितों का संरक्षण करते हैं जबकि बहुसंख्य श्रमिकों के हितों का उनमें बिल्कुल भी ध्यान नहीं रखा गया है। औद्योगिक विवाद अधिनियम के तहत सौ से अधिक श्रमिकों को रोजगार देने वाली किसी भी फर्म के लिए सरकार की पूर्वानुमति के बगैर रोजगार में कटौती करना वैधानिक ढंग से असंभव है। यह अधिनियम किसी उद्यम के भीतर भी श्रमिकों के पुनर्नियोजन को भी बहुत कठिन बना देता है, जो उतनी ही खराब स्थिति को दर्शाता है। दूसरा वैधानिक रास्ता है कि ठेका श्रमिक रखे जाएं। किंतु ठेका श्रम रोजगार की घटिया गुणवत्ता के रूप में परिणत होती है। इसके अलावा, ठेका श्रम अधिनियम के तहत 'मुख्य/कोर' गतिविधियों के लिए ठेका श्रमिक नियुक्त करने की मनाही है; और 'मुख्य/कोर' गतिविधियों की परिभाषा को प्रशासनिक विवेक पर छोड़ दिया गया है। उनके गतिरोध के रूप में अड़चनों और निहित अनिश्चितताओं के अंतर्गत इन बहुत सी बंदिशों के कारण प्रत्यक्ष रूप से श्रम की प्रभावी लागत बढ़ जाती है, या फिर अप्रत्यक्ष रूप से बढ़ा दी जाती है। परिणामस्वरूप, घरेलू और विदेशी कंपनियों को श्रम प्रयोग को न्यूनतम रखने और श्रम-प्रधान उद्योग में निवेश को टालने के लिए सभी प्रकार से प्रोत्साहन मिलता है (इस संबंध में, यह ध्यान देने योग्य है कि भारत में होने वाला प्रत्यक्ष विदेशी निवेश उन उद्योगों को प्राप्त नहीं होता है जो कम-कुशल श्रम का प्रयोग करते हैं)। श्रम-प्रधान उद्योगों द्वारा निर्मित बड़े पैमाने पर प्रयोग की जाने वाली उपभोक्ता वस्तुओं के निर्यात हेतु बड़ी संख्या में श्रमिकों को रोजगार देने वाली फैक्टरियों में बड़े पैमाने पर उत्पादन की आवश्यकता होती है। चीन में इस तरह की कंपनियों के बहुत से उदाहरण विद्यमान हैं, और बांगलादेश तथा वियतनाम में भी इनका चलन बढ़ रहा है किंतु भारत में इनकी उपस्थिति बहुत कम है। श्रम कानूनों को पूर्णत: संशोधित किए बिना इस स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होने वाला है। परंतु, स्पष्ट तौर पर बदले में लाभों के बगैर मजबूत सुरक्षा वाले रोजगार को छोड़ने के लिए ट्रेड यूनियन तैयार नहीं होंगी। इसलिए, श्रम-बाजार में किए जाने वाले सुधार तभी संभव हो सकेंगे जब रोजगार समापन पर दिए जाने वाले लाभों को अधिक उदार बनाने, समग्र रूप से बेहतर सुरक्षा प्रबंध, और रोजगार की तलाश एवं प्रशिक्षण की अधिक प्रभावी योजनाओं की शर्तों को समझौता के एक भाग के तौर पर ट्रेड यूनियनों से समझौता-वार्ता में शामिल किया गया हो। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो *पक्के रोजगार* में कमी लाने के बदले आय सुरक्षा में दृढ़ता की बात की जाए। इस प्रकार के समझौता-वार्ता में यूनियन और राज्य सरकारों, दोनों द्वारा उच्च-स्तरीय नेतृत्व की जरूरत पड़ेगी।

श्रम-प्रधान वृद्धि से संबंधित नीतिगत पैकेज का दूसरा पहलू, जिस पर मैं आज अपना ध्यान केंद्रित करना चाहता हूं, विनिमय दर प्रबंधन है, जो भारत सरकार और भारतीय रिज़र्व बैंक की संयुक्त जिम्मेदारी है। भारत की वास्तविक प्रभावी विनिमय दर (आरईईआर) का मध्यावधिक उद्भव बहुत विचित्र है (सारणी 2 और चार्ट 1 एवं 2 देखें)। 1993/94 से 2004/05 तक वास्तविक प्रभावी विनिमय दर +/-5 प्रतिशत के बहुत संकीर्ण दायरे में रही, जो लगभग अपरिवर्तित रुझान को दर्शाता है। हालांकि, 2004/05 से 2017/18 तक इसमें महत्वपूर्ण वास्तविक वृद्धि हुई है। सचमुच, 2008/09 के वैश्विक संकट के नौ वर्षों के बाद वास्तविक प्रभावी विनिमय दर में वृद्धि दर का रुझान लगभग 2.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष रहा है। प्रश्न यह उठता है कि क्या निर्यात, विशेषरूप से श्रम-प्रधान निर्यात की प्रतिस्पर्धात्मकता को बरकरार रखने की जरूरत को देखते हुए, मजबूती से बढ़ती हुई वास्तविक प्रभावी विनिमय दर का होना बुद्धिमानी है ? निर्यात में तीव्र वृद्धि के बगैर वहनीय तीव्र वृद्धि को हासिल करने वाले किसी देश के बारे में सोच पाना काफी कठिन है। किंतु, भारत की निर्यात वृद्धि धीमी गति से होती रही है। निस्संदेह, वैश्विक व्यापार की धीमी वृद्धि ने वर्तमान दशक में अन्य देशों के समान भारत के निर्यात को भी नुकसान पहुंचाया है। किंतु, इस अवधि के दौरान वैश्विक निर्यात में भारत के हिस्से में, जिसे वैश्विक व्यापार में वृद्धि से संबद्ध किए जाने की जरूरत नहीं है, पूर्णत: अविचल रही है। क्या वास्तविक विनियमय दर आंशिक रूप से इसकी जिम्मेदार है।

[7] जगदीश भगवती एवं अरविंद पनगरिया, *व्हाई ग्रोथ मैटर्स,* पब्लिक अफेयर्स, अध्याय 8; एवं विजय जोशी (पूर्व उल्लिखित कार्य/पुस्तक में), अध्याय 5 देखें।

वास्तविक विनिमय दर में वृद्धि के रुझान का एक संभावित औचित्य यह है कि इससे अन्य उन्नत देशों की तुलना में भारत की तीव्र उत्पादकता वृद्धि का सामान्य रूप से पता चलता है। मैं इसका उल्लेख इसलिए कर रहा हूं क्योंकि ऐसा प्रतीत हो रहा है कि भारत में मौद्रिक और राजकोषीय प्रोत्साहन (पॉलिसी ट्रैक्शन) लागू किए जा रहे हैं। अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में एक सुपरिचित कथन है कि - बेला बलास्सा एवं पॉल सैम्युअलसन के मत्थे मढ़ दो, अर्थात् स्वदेश में विदेशों की तुलना में गैर-व्यापारिक वस्तुओं की अपेक्षा व्यापारिक वस्तुओं की उत्पादकता वृद्धि अधिक होने की संभावना है तो वहां पर मापित वास्तविक विनिमय दर की वृद्धि साम्यावस्था में होगी (पारंपरिक तरीके से परिभाषित वास्तविक विनिमय दर को 'मापित वास्तविक विनिमय दर' कहते हैं, जबकि सांकेतिक विनिमय दर सूचकांक को कम करने के लिए समग्र उपभोक्ता मूल्य सूचकांक का प्रयोग किया जाता है)। इस कथन का अर्थ यह है कि विनिर्दिष्ट परिस्थितियों में, मापित वास्तविक विनिमय दर की स्वदेश में हुई वृद्धि से उसकी व्यापार-योग्य वस्तुओं की अंतरर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धात्मकता में आई कमी को सामान्यत:, और विशेषरूप से उसके निर्यात में कमी का पता नहीं चलता है। किंतु, बलास्सा-सैम्युअलसन परिकल्पना के अनुभवजन्य प्रयासों के परिणाम अस्पष्ट और मिलीजुली प्रकृति के रहे हैं। इसका एक कारण यह हो सकता है कि - गैर-व्यापारिक उद्योगों की तुलना में व्यापारिक उद्योगों की उत्पादकता वृद्धि तीव्र गति से होती है, की मान्यता सामान्य रूप से सही न हो, अथवा यह मान्यता किसी अवधि के लिए सही हो और किसी अन्य अवधि के लिए सही न हो। आखिरकार, दूरसंचार और वित्तीय सेवाओं, जिनका अधिकांश हिस्सा गैर-व्यापारिक क्षेत्र में है, में बहुत तीव्र तकनीकी प्रगति हुई है। इसके अलावा, इसका कोई कारण नज़र नहीं आता कि श्रम-अधिशेष वाले देशों में बलास्सा-सैम्युअलसन वास्तविक वृद्धि होने की संभावना क्यों है अथवा वे अपेक्षित क्यों हैं; और इसके अनुरूप हमें ज्ञात है कि पूर्वी-एशिया के बहुत से तीव्र गति से वृद्धिशील देशों में वास्तविक विनिमय दर वृद्धि बने रहने की प्रवृत्ति नहीं देखी गई है।[8] इसलिए यह संदेहास्पद है कि भारत की परिस्थितियों में विनिमय दर नीति के मार्गदर्शन हेतु बलास्सा-सैम्युअलसन परिकल्पना विश्वसनीय है या नहीं (इसका प्रभाव यह है कि भारत की मापित वास्तविक विनियम दर वृद्धि से इसके निर्यात सहित व्यापारिक वस्तुओं की अंतरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्धात्मकता में गिरावट का सही संकेत मिलता है।) मेरा सुझाव है कि भारत की वर्तमान स्थिति को समझने से संबंधित सिद्धांत बलास्सा-सैम्युअलसन परिकल्पना नहीं है बल्कि इसे 'डच डिज़ीज' परिकल्पना सही बयां करती है। भारत के तथाकथित डच डिज़ीज के शिकार होने का खतरा मंडरा रहा है, क्योंकि विनिर्माण तथा सेवाओं, विशेषरूप से व्यापारिक तथा श्रम-प्रधान विनिर्माण और सेवाओं, के लिए बाधा उत्पन्न करने के लिए पूंजीगत अंतर्वाह के द्वारा विनिमय दर का मसला उठ रहा है।

यह मानने में कोई गुरेज नहीं है कि वास्तविक विनिमय दर वृद्धि रोकना सच में एक छलावा हो सकता है।[9] नीतिगत लिखतें वास्तविक विनिमय दरें नहीं बल्कि सांकेतिक विनिमय दरे हैं। घरेलू मुद्रास्फीति में तेजी होने पर सांकेतिक गिरावट को रोकने का प्रलोभन होता है, और इस प्रकार से मुद्रास्फीति नियंत्रण के क्रम में वास्तविक वृद्धि होने दी जाती है। मुझे आशंका है कि इसी विचार के चलते 2009 एवं 2010 की उच्च मुद्रास्फीति के प्रति विनिमय दर की नीतिगत प्रतिक्रिया निर्धारित की गई थी। इसका प्रतिकूल पक्ष यह था कि वास्तविक वृद्धि से उसके बाद चालू खाता घाटा बढ़कर 2011 और 2012 में सकल घरेलू उत्पाद के 4 प्रतिशत के खतरनाक स्तर से भी अधिक हो गया था, जिसके विभिन्न हानिकारक असर देखे गए। मैं, इससे यह सीख लेना चाहूंगा कि मुद्रास्फीति नियंत्रण का दायित्व सामान्यत: मौद्रिक और राजकोषीय नीति को सौंपा जाना चाहिए, न कि विनिमय दर नीति को। इस प्रकार से विनिमय दर को बाहरी लक्ष्य हासिल किए जाने हेतु स्वतंत्र छोड़ना चाहिए। बेशक, मौद्रिक नीति और विनिमय दर नीति को पृथक किया जाना मुद्रास्फीति नियंत्रण के विशुद्ध सिद्धांत से अलग बात है। किंतु, इसे वास्तविक हस्तक्षेप एवं लक्षित पूंजीगत नियंत्रणों के प्रयोग से संभव बनाया गया है। ये नीतियां विशेष रूप से उस स्थिति में उपयागी होती हैं जब कि हमारे समक्ष अस्थिर विदेशी पूंजी के बड़े अंतर्वाह जैसा कोई प्रलोभन होने की वजह से सांकेतिक और वास्तविक

[8] यदि बलास्सा-सैम्युअलसन परिकल्पना को अनुभव-जन्य मान्यता होती, तो तेजी से विकासशील पूर्वी एशियाई देशों में अमेरिकी डॉलर के प्रति द्विपक्षीय वास्तविक विनिमय दर वृद्धि की प्रवृत्ति बरकरार रहती। उनमें से अधिकांश (1960 से तीन दशकों तक जापान इसका अपवाद रहा है) के संबंध में ऐसा नहीं हुआ है। इससे यह पता चलता है कि इन देशों ने समय के दौरान व्यापार योग्य वस्तुओं के मामले में कम से कम अपनी अंतरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्धात्मता बनाए रखी या शायद उसमें सुधार किया। संबंधित आंकड़ा उपलब्ध कराने के लिए मैं डॉ. कामाख्या त्रिवेदी का आभारी हूं।

[9] भारत की विनिमय दरों के विश्लेषण के लिए विजय जोशी (2016), (पूर्व उल्लिखित कार्य/पुस्तक में), अध्याय 8 देखें।

विनिमय दर को बढ़ने दिया जाता है। इन बड़े अंतर्वाहों को अस्थायी समझे जाने की सीमा तक, वास्तविक वृद्धि न मानने के लिए यह एक अच्छा उदाहरण है। निश्चित रूप से, यहां दुविधाएं हैं। सटीक हस्तक्षेप के लिए उचित प्रकार की लिखतें (उपकरण) होना भी आवश्यक है। ये भारत में मौजूद अवश्य हैं लेकिन इन्हें मजबूत किए जाने की जरूरत है जैसा कि मौद्रिक नीति ढांचे पर पटेल समिति की रिपोर्ट में भी सही प्रकार से तर्क दिया गया है।[10] सटीक हस्तक्षेप करने की एक सर्वज्ञात सीमा यह भी है कि इसकी कुछ लागत हो सकती है जो कि आर्थिक और अर्द्ध-राजकोषीय भी हो सकती है। इसलिए उचित यह है कि सटीक हस्तक्षेपों के साथ ही लक्षित पूंजी-अंतर्वाह नियंत्रणों और/या मुद्रा आधारित विवेकपूर्ण नियंत्रणों को संयुक्त किया जाए। इनमें से कुछेक विधियों को एक बार हटाने के बाद पुन: लागू कर पाना कुछ मुश्किल होता है परंतु कुछ अन्य ऐसे होते हैं जैसे कि कर, विथहोल्डिंग कर और कुछ निश्चित प्रकार के गैर-एफडीआई अंतर्वाहों पर आरक्षित अपेक्षाओं को लागू करना, जिन्हें परिस्थिति के अनुसार घटाया या बढ़ाया जा सकता है।[11] इन विविध उपायों की लागत रोज़गार, निर्यातों और संवृद्धि के संबंध में उनके द्वारा प्रदान किए जाने वाले फायदों की तुलना में काफी कम होगी। एक महत्वपूर्ण बात यह भी है जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए और वह है विनिमय दर नीति। जैसे कि मौद्रिक नीति दीर्घावधि और विविध अंतरालों के साथ परिचालित होती है वैसे ही प्रतिस्पर्द्धी विनिमय दर नीति भी मौजूद होनी चाहिए ताकि एक संतुलित समय-सीमा के भीतर इसके प्रभाव को मापा जा सके।

विनिमय दर नीति पर किसी प्रकार की टिप्पणी करने से किसी बाहरी व्यक्ति को परहेज रखना चाहिए जब तक कि उसे सभी नीतिगत बाध्यताओं की जानकारी न हो और निश्चित ही किसी सार्वजनिक भाषण में मैं किसी समुचित आंकिक कीमत या विनिमय दर पथ के संबंध में कोई बात नहीं करने जा रहा हूं।[12] फिर भी मैं आश्चर्य व्यक्त करता हूं कि भारत में किस प्रकार महत्वपूर्ण वास्तविक विनिमय दर को बढ़ते जाने की अनुमति प्रदान की गई है जबकि ए) देश के रोजगार और वृद्धि के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए निर्यातों को मुख्य स्थान प्रदान किया गया है और बी) इससे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि विशल चालू खाता घाटा जोखिम को बढ़ा सकता है और आर्थिक बहाली में व्यवधान उत्पन्न कर देगा। मेरा समग्र दृष्टिकोण यह है कि भारत सरकार और भारतीय रिज़र्व बैंक को ऋण अंतर्वाहों और अतिशीघ्र चलायमान मुद्रा (हॉट मनी) के प्रति झुकाव में कुछ कमी करनी चाहिए और हाल के वर्षों की तुलना में वास्तविक विनिमय दर को स्थिर और प्रतिस्पर्द्धी बनाए रखने के लिए कार्य करना चाहिए।

यह दोहराए जाने की जरूरत है कि निर्यात प्रोन्नयन और रोजगार निर्माण लिए आपस में अन्योन्यश्रित नीतियों के एक समग्र पैकेज की आवश्यकता होगी और जिसमें मुद्रा विनिमय नीति किसी भी तरह से कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसके बाद भी मैं इस बात में विश्वास रखता हूं कि इस प्रकार के पैकेज के सहायक घटक के रूप में भी प्रतिस्पर्द्धी वास्तविक विनिमय दर की आवश्यकता होगी। अब मैं अपने तीन शेष मुद्दों पर संक्षिप्त चर्चा करना चाहूंगा।

III. गहन राजकोषीय समायोजन

भारत ने वस्तुओं और सेवाओं हेतु बाजारों में घरेलू और बाह्य स्तरों पर काफी छूट प्रदान की है। हाल ही में वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी) को लागू करना भी एक सकारात्मक कदम है। यद्यपि विभिन्न कर दरों और जीएसटी में छूटों के संबंध में तत्काल कार्रवाई अपेक्षित है फिर भी एक प्रभावी अप्रत्यक्ष कर प्रणाली बनाने के संबंध में एक पहल की गई है जिससे अंततः वास्तविक रूप में भारत एक सामान्य बाजार बन सकेगा।[13]

फिर भी, वस्तुओं और सेवाओं हेतु बाजारों में मौजूद बाधाओं को हटाने की प्रक्रिया पूर्ण नहीं हो सकती है। शायद सबसे कुख्यात समस्या मूल्य नियंत्रणों से संबंधित है। खाद्य सामग्रियों, ईंधन जैसे कि केरोसीन और कुकिंग गैस

[10] मौद्रिक नीति ढांचे को संशोधित और सुदृढ़ करने से संबंधित रिपोर्ट (अध्यक्ष: डॉ. ऊर्जित पटेल), देखें भारतीय रिज़र्व बैंक (2014).

[11] जॉनाथन ऑस्ट्रे एवं अन्य देखें (2011), 'मैनेजिंग कैपिटल इनफ्लोज़: व्हाट टूल्स टु यूज़'। आईएमएफ स्टाफ डिस्कशन नोट 11/06 और आतिश घोष एवं महावश कुरैशी (2016), 'व्हाट इज इन नेम? दैट व्हिच वी कॉल कैपिटल कंट्रोल्स'। आईएमएफ वर्किंग पेपर डब्लयूपी/16/25.

[12] 'विनिमय दर हस्तक्षेप' के लिए यू.एस. ट्रेज़री की 'निगरानी सूची' में रखे जाने से बचना संभावित 'अनिवार्यता' है। मैं नहीं समझता के सूची में रख दिया जाना कहीं इतना अधिक महत्वपूर्ण है। लगातार जीडीपी के तीन प्रतिशत के चालू खाता शेष अधिशेष बनाए रखने से भारत अभी कोसों दूर है। जो कि एक मानदंड रखा गया है 'हस्तक्षेपकर्ता' के रूप में वर्गीकृत करने के लिए। किसी भी मामले में तीव्रतर निर्यात वृद्धि हासिल करने लिए चालू खाता अधिशेष उत्पादित करना लक्ष्य नहीं होना चाहिए अपितु रोज़गार-समन्वित वृद्धि होना चाहिए और निष्पादन के आधार पर आयातों में और छूट प्रदान करनी चाहिए। आयातों में छूट के साथ ही जीडीपी की उच्चतर वृद्धि निर्यात को बढ़ावा देगी। इस बात का कोई कारण नहीं है कि निर्यात और आयात में वृद्धि का परिणाम चालू खाता अधिशेष होना चाहिए.

[13] डिज़ाइन संबंधी समस्याओं के कारण तो जीएसटी को लागू करना प्रभावित हुआ ही इसके अतिरिक्त विभिन्न करों और छूटों ने भी अपना असर डाला: देखें इंदिरा राजारमन (2017), 'फरदर रिफार्म आर नीडेड फॉर जीएसटी टु सक्सीड', मिंट 03 नवंबर.

और अन्य कई महत्वपूर्ण इनपुट जैसे कि खाद, बिजली, पानी, और रेल किराया आदि पर अभी भी मूल्य नियंत्रण मौजूद हैं। इन नियंत्रणों के कई बुरे प्रभाव होते हैं। सबसे पहले तो वे संसाधन आबंटन को प्रभावित करते हैं। चूंकि प्रभारित मूल्य उत्पादन लागत से कम होते हैं इसलिए इनकी आपूर्ति में निवेश हतोत्साहित होता है और निष्फल उपभोग को बढ़ावा मिलता है। दूसरे वे राजकोषीय बोझ का निर्माण करते हैं क्यों कि इसके लिए राज-सहायता (सब्सिडी) अपेक्षित होती है, जो कि स्पष्ट रूप से बजट से मिलती है या अप्रत्यक्ष रूप से हानियां या उत्पादों के लिए घटे हुए लाभ के रूप में होती है। तीसरे यह काफी बड़े स्तर पर प्रतिगामी होती है और इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि प्रति यूनिट उपभोग पर प्रदान की जाने वाली सब्सिडी अधिक लाभ उन्हें प्रदान करती है जो ज्यादा उपभोग करते हैं अर्थात् सम्पन्नों को। सब्सिडी में कई स्थानों पर लीकेज भी होता है और राशि जो कि गरीबों के लिए उद्देश्यित होती है उसका फायदा बिचौलियों द्वारा उठाया जाता है। सब्सिडी को हटाने और लागत-प्रदर्शित करने वाली कीमतों को प्रभारित करने से निवेश और वृद्धि में बढ़ोतरी होगी जबकि वितरण संबंधी चिंताओं का सामना सीधे नकद अंतरण द्वारा प्रभावी रूप से किया जा सकता है जो क्रमिक रूप से अब व्यवहार्य हो रहा है। सब्सिडी को समाप्त करने से निर्मित होने वाली राजकोषीय बचत सब्सिडी के गरीब लाभार्थियों तक पर्याप्त रूप में लाभ पहुंचाने से कहीं अधिक होगी।

केन्द्र और राज्य की 'गुणवत्ता-विहीन' सब्सिडी का मात्रात्मक आकार काफी बड़ा है। हाल में सावधानी-पूर्वक किया गया एक अध्ययन इस प्रकार की कुल सब्सिडी के 2011-12 में जीडीपी के 6.7 प्रतिशत होने का अनुमान लगाता है।[14] मेरी गणना यह दर्शाती है कि हाल में किए गए परिवर्तनों ने इस कुल को कम करके जीडीपी के लगभग 6 प्रतिशत तक सीमित कर दिया है। तथापि, यदि कुछ अन्य वांछित उपायों को भी शामिल कर दिया जाए जैसे कि निष्क्रिय कर छूटों को समाप्त करना, गैर-निष्पादन करने वाले राज्य उद्यमों की बिक्री कर देना, एक सीमा से अधिक कृषि योग्य आय को कर के दायरे में लाना और खराब तरीके से बनाए और क्रियान्वित किए जाने वाले गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों को समाप्त करना (प्रभावी को जारी रखते हुए) तो राजकोषीय गुंजाइश जीडीपी के 6 प्रतिशत से कहीं अधिक होगी, जी हां, यह जीडीपी के 10 प्रतिशत जितनी बड़ी भी हो सकती है। इस प्रकार, सैद्धांतिक रूप में पर्याप्त राजकोषीय गुंजाइश बन सकती है जिसका उपयोग न केवल गरीबों को दी जाने वाली सब्सिडी को हटाने परंतु: i) आधी आबादी या पूरी आबादी के लिए मूल आय में सहायता का वित्त पोषण करने (ताकि गरीबों को चिह्नित करने की समस्या से बचा जा सके); ii) सार्वजनिक निवेश में बड़ी वृद्धि करने और शिक्षा तथा स्वास्थ्य देख-भाल जैसे वांछित सामाजिक खर्चों; और iii) राजकोषीय घाटे को कम करने में इसके योगदान के प्रति किया जा सकता है।[15] संसाधनों के आवंटन में सुधार के साथ ही साथ मूल्य नियंत्रणों को हटाने से समग्र रूप में योजना, विविध प्रकार से समन्वित विकास को प्रोत्साहित करेगी। यह कहने की जरूरत नहीं है कि 'गहन राजकोषीय समायोजन' आमूल-चूल कार्यक्रम के लिए केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच अतीव सामंजस्य की आवश्यकता होगी। इसे कई राजनीतिक बाधाओं का भी सामना करना होगा। परंतु इसका पुरस्कार अति विशाल होगा क्योंकि इस प्रकार के कई रचनात्मक कार्य हैं जहां कि इस राजकोषीय बचत का उपयोग किया जा सकता है।

IV. प्राथमिक शिक्षा

प्रत्येक देश जिसने तीव्र दीर्घावधि दौड़ लगाई है उसने अपनी मानव-पूंजी में क्रमिक रूप से सुधार किया है। इस उद्देश्य के लिए सभी स्तरों पर शिक्षण और प्रशिक्षण की ओर ध्यान दिया जान वांछित है परंतु प्राथमिक शिक्षा, जो कि शिक्षा प्रणाली का आधार होती है, विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। दुर्भाग्य से भारत ने यद्यपि स्कूलों में नामांकन में काफी उल्लेखनीय प्रगति की है फिर भी प्राथमिक शिक्षा की गुणवत्ता घटिया है और गिरती जा रही है। उदाहरण के लिए, ग्रामीण भारत में 2016 की प्रथम रिपोर्ट के अनुसार, कक्षा V (सामान्य आयु 11 वर्ष) में आधे से कम बच्चे कक्षा II (सामान्य आयु 7 वर्ष) की एक साधारण कहानी बर्नाकुलर में पढ़ पाते हैं; और कक्षा V के केवल एक चौथाई बच्चे एक अंक की संख्या से 3 अंक की किसी संख्या को विभाजित कर पाते हैं।[16]

यह समस्या पढ़ाने के तरीके से उत्पन्न होती है। प्रणाली का अधिकतम जोर इस बात पर रहता है कि प्रत्येक वर्ष 'पाठ्यक्रम को समाप्त' कर लिया जाए, चाहें बच्चे

[14] देखें सुदीप्तो मुंडले और शतादु सिकदर, (2017), 'बजट सब्सिडीज़ ऑफ सेंट्रल गवर्नमेंट एंड 14 इंडियन स्टेट्स', आइडियाज़ फॉर इंडिया, 14 मार्च.

[15] देखें विजय जोशी (2016), पूर्व उल्लिखित अध्याय 6 और 10; और विजय जोशी (2017), 'युनिवर्सल बेसिक इनकम सप्लीमेंट फॉर इंडिया: ए प्रपोज़ल' इंडियन जर्नल ऑफ ह्यूमन डेवलपमेंट, खंड 11 (2)। मेरी गणना यह दर्शाती है कि एक युनिवर्सल बेसिक इनकम सप्लीमेंट सेट एक स्तर का निर्माण करेगा जो तेंडुलकर की गरीबी रेखा और गरीब की मौजूदा औसत आय के बीच के अंतर के बराबर होगा और जो जीडीपी का लगभग 3.5 प्रतिशत बैठेगा.

[16] देखें, प्रथम एजूकेशनल फाउंडेशन (2017), एन्युल स्टेटस ऑफ एजुकेशन रिपोर्ट (रूरल), 2016।

वास्तव में उसे समझ पाएं अथवा नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि वितरण के शीर्ष पर स्थित बच्चों की एक छोटी संख्या ही उससे ताल-मेल बैठा पाती है और शेष सभी पिछड़ जाते हैं और क्रमिक रूप से उनकी रुचि घटती जाती है। दूसरी मुख्य समस्या अध्यापकों की ओर से प्रतिबद्धता में कमी है। अध्यापकों की गैर-हाजिरी भरपूर है। सरकारी अध्यापकों का वेतन अच्छा है और वे अत्यधिक यूनियनबाजी करते हैं, बड़ी चूक होने पर भी किसी अध्यापक को बर्खास्त कर पाना असंभव है। निजी क्षेत्र में प्रोत्साहन तीव्र हैं और अध्यापक अधिक प्रयास करते हैं। निजी स्कूलों में सीखने के अपेक्षाकृत बेहतर परिणाम हैं। इसमें आश्चर्य नहीं है कि लोग अपने विकल्पों का उपयोग कर रहें हैं और निजी स्कूलों द्वारा शुल्क लेने के बावजूद वे उनके लिए सरकारी स्कूलों को छोड़ रहे हैं। उल्लेखनीय है कि यदि राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखा जाए तो निजी स्कूल सरकारी स्कूलों से सस्ते हैं क्योंकि वे अध्यापकों को सरकारी स्कूलों के समकक्ष अध्यापकों की तुलना में कहीं कम वेतन देते हैं।

दुर्भाग्य से शिक्षा का अधिकार अधिनियम (2010) में भी गलत शिक्षा नीति को ही ध्यान में रखते हुए इनपुट पर जोर दिया गया है न कि सीखने पर।[17] विशेष रूप से यह अध्यापक के उत्तरदायित्वों के गंभीर मुद्दे पर टाल-मटोल करता है। एक विवादपूर्ण भावी दिशा यह हो सकती है कि वाउचर प्रणाली को लागू किया जाए जिसमें माता-पिता को शिक्षा वाउचर प्रदान किए जाएंगे इस विकल्प के साथ कि वे अपने बच्चों के लिए सरकारी स्कूल का चुनाव करें या फिर निजी स्कूल का, जिसमें सरकार की भूमिका केवल समग्र विनियमन तक सीमित हो जाएगी। इसका परिणाम यह होगा कि सभी स्कूलों को प्रति-विद्यार्थी अनुदान मिलेगा न कि एकमुश्त अनुदान और यदि सरकारी स्कूल बच्चों को आकर्षित नहीं कर पाते हैं तो उन्हें बंद होना पड़ेगा। मेरा झुकाव इस दृष्टिकोण के प्रति है आदर्शवादिता को लेकर नहीं अपितु व्यावहारिक आधार पर। आज हम जहां हैं वहां से प्रारंभ करें तो यह देखना कठिन है कि केवल आंतरिक सुधारों के आधार पर सरकारी स्कूलों में सुधार लाया जा सकता है जब तक कि प्रतिस्पर्द्धा और बंदी की कारगर धमकी न दी जाए। चाहें जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि जब तक भारत अपनी प्राथमिक शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार नहीं लाता है इसके आर्थिक विकास को गंभीर झटका लगने वाला है और यह सुधार चाहें वाउचर व्यवस्था से प्रतिस्पर्द्धी प्रणाली के द्वारा लाया जाए अथवा मौजूदा ढांचे के भीतर आमूल-चूल परिवर्तन कर लाया जाए।

V. सरकार की क्षमता

सरकार और बाजार के बीच संबंधों को दुरुस्त करना जितना महत्वपूर्ण है उतना ही सरकार में सुधार करना आवश्यक है। साधारण रूप में आर्थिक सुधार के घटक को 'सरकार द्वारा वापस लेने' की सोच मानना न केवल अपूर्ण है अपितु भ्रामक भी है। सरकार कितना छोड़ सकती है या कार्य को किस सीमा तक निजी क्षेत्र को सौंपा जा सकता है इसकी कुछ सीमाएं हैं। कुछ ऐसी मूल्यपरक वस्तुएं हैं जिन्हें केवल सरकार द्वारा ही निष्पाादित किया जा सकता है।

बढ़ती हुई मांग के सापेक्ष भारत सरकार की क्षमता में गिरावट आ रही है क्योंकि सुविधाहीन समूहों में राजनीतिक जागरूकता बढ़ रही है, लोगों की महत्वाकांक्षाएं ऊंची हैं और अर्थव्यवस्था जटिल तथा तीव्र गति से बढ़ रही है। भारत में सरकार के भली प्रकार से कार्य न कर पाने के कारण हो सकते हैं: अपने मुख्य कार्यों को संपादित कर पाने संबंधी क्षमता में कमी होना और सरकार-व्यापार एवं सरकार-नागरिक संबंधों में भ्रष्टाचार का बोल-बाला होना। भ्रष्टाचार एक बड़ा मुद्दा है जिस पर विमर्श के लिए मेरे पास समय नहीं है। केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि भ्रष्टाचार के समाधान का एक मुख्य घटक चुनावों के वित्तपोषण संबंधी सुधारों को लागू करना है। इसके बजाय, मैं संक्षिप्त रूप में, सरकारी क्षमता संबंधी कुछ अन्य मात्रात्मक और गुणात्मक पहलुओं पर विचार-विमर्श करना चाहूंगा।[18]

मात्रात्मक पहलू की बात करें तो इस बात की कोई प्रशंसा नहीं करेगा कि यद्यपि सरकार में अत्यधिक नौकरशाही (ब्यूरोकेसी) मौजूद है, जैसा कि व्यापार सहजता में आने वाली अड़चनों से मालूम पड़ता है, फिर भी यहां स्टाफ की कमी है। 25 वर्ष पूर्व की तुलना में सरकारी क्षेत्र में रोज़गार अब काफी कम है जबकि अर्थव्यवस्था में काफी विस्तार हुआ है। यहां तक कि पिछले दो दशकों में प्रतिष्ठित भारतीय प्रशासनिक सेवा में लगभग 10 प्रतिशत की कमी आई है। पुलिस बल में इसके 25 प्रतिशत पद रिक्त पड़े हुए हैं। जी20 देशों के बीच भारत में प्रति व्यक्ति न्यायाधीशों की संख्या भी सबसे कम है। न्यायपालिका में रिक्त पदों

[17] देखें कार्तिक मुरलीधरन (2013), 'प्रायरॉरिटीज़ फॉर प्राइमरी एजुकेशन पॉलिसी इन इंडियाज़ 12थ फाइव इयर प्लॉन'। इंडिया पॉलिसी फोरम 2012/13 खंड 9; जीन ड्रेज़ एंड अमर्त्य सेन (2013), 'एन अनसर्टेन ग्लोरी: इंडिया एंड इट्स कन्ट्राडिक्शन्स़', पेंग्विन बुक्स। अध्याय 5 : और विजय जोशी (पूर्व उल्लिखित), अध्याय 9.

[18] देखें टी. एन. निनान (2015), दि टर्न ऑफ दि टॉरटाइज़, पेंग्विन रैंडम हाउस, चप्टर्स 5, 8, 9 एंड 10: देवेश कपूर, प्रताप मेहता एंड मिलन वैष्णव (2017), रीथिंकिंग पब्लिक इंस्टीट्यूशन्स इन इंडिया। ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस: और विजय जोशी (पूर्व उल्लिखित), चैप्टर 11.

की घटना हतप्रभ करने वाली है: सर्वोच्च न्यायालय में 13 प्रतिशत, उच्च न्यायालयों में 29 प्रतिशत और जिला अदालतों में 21 प्रतिशत। गुणात्मक पहलू का विचार करें तो स्थित वैसी ही खराब है। पुलिस बल अपराध को रोकने के बजाय औपनिवेशिक प्रथा के अनुसार ही भीड़ नियंत्रण करने में फंसा हुआ है। इसमें राजनीति गहरे तक पैवस्त है, यहां तक कि शीर्ष जांच एजेंसियां भी इसमें शामिल हैं। न्यायपालिका के पास लंबित मामलों की विस्तृत सूची है: 2015 में 32 मिलियन मामले लंबित थे जिसमें से लगभग 25 प्रतिशत मामले 5 वर्षों से लंबित थे और 10 प्रतिशत मामले पिछले 10 वर्षों से लंबित थे। शीर्ष प्रशासनिक सेवा 'सामान्य' बनी हुई है जिसके पास कोई पेशेवर कुशलता या क्षैतिज प्रवेश का मार्ग नहीं है और यह स्टाफ-स्थानांतरणों और पद पर तैनाती द्वारा गंभीर राजनैतिक हस्तक्षेप की शिकार हो गई है। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है सरकार की मुख्य सेवाओं जैसे कि शिक्षा और स्वास्थ्य देखभाल के मामले में निचले स्तरों पर उत्पादकता एकदम कम है।

एक अन्य क्षेत्र जहां मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों प्रकार की बड़ी कमी देखने को मिलती है, वह है विनियमन। यह एक जटिल क्षेत्र है जिसने विश्लेषणात्मक सिद्धांत और अंतरराष्ट्रीय उत्कृष्ट प्रथाओं में कई प्रकार की उन्नतियां देखी हैं। भारत इस दौड़ में अभी पीछे है। हमें कई क्षेत्रों में प्रभावी विनियमन की आवश्यकता है परंतु हमारे अधिकतर विनियमन निकाय विशेषज्ञता की कमी, स्वतंत्रता की कमी और कमजोर मानव संसाधनों से जूझ रहे हैं। विनियमन इन्फ्रास्ट्रक्चर सेवाओं और सरकारी-निजी भागीदारी के निर्माण और निगरानी में स्पष्ट रूप से कमियां हैं। विनियामक अक्सर सेवानिवृत्त नौकरशाह होते हैं जो राजनीतिज्ञों के विरुद्ध खड़े होने के लिए अनिच्छुक होते हैं।

स्वतंत्रता के समय भारत ने काफी मजबूत संस्थानों के साथ शुरुआत की थी। परंतु इस नींव पर इमारत खड़ी करने का कोई प्रयास नहीं किया गया और समस्या अब इस स्तर पर पहुंच गई है जहां इसकी ओर तत्काल ध्यान दिए जाने की जरूरत है। इस संबंध में कई समितियों की रिपोर्टें मौजूद हैं परंतु उनमें दिखाने के लिए कुछ नहीं है। लगातार लापरवाही जोखिमपूर्ण हो सकती है क्योंकि दीर्घावधि में तीव्र और समन्वित वृद्धि मजबूत संस्थानों के बिना असंभव होगी। एक समस्या का विशेष उल्लेख करना उचित होगा, वह है सरकार में मानव संसाधन का प्रबंधन बहुत खराब है। चयन, प्रशिक्षण और प्रोन्नयन की असंतुष्टि-पूर्ण प्रक्रिया और कार्मिकों की अक्षमता की जवाबदेही, जो कि छोटी बात नहीं है और नागरिकों के प्रति उनके उत्तरदायित्वों की कमी व्यापक रूप से पैवस्त है। सरकारी ओहदेदारों को सार्वजनिक हित साधन के मिशन में किस प्रकार लगाया जाए यह बुनियादी महत्व की एक अनसुलझी समस्या है।

समापन टिप्पणियां

एक अंतिम टिप्पणी के साथ अपनी बात समाप्त करना चाहूंगा जो भारत में वांछित सुधार से संबंधित है: भारत को दोनो चाहिए सरकारी हस्तक्षेप हो और नहीं भी। इसे 'सरकारी हस्तक्षेप में कमी' चाहिए क्योंकि अपने तुलनात्मक लाभ की स्थिति से सरकारी हस्तक्षेप कहीं अधिक बढ़ गया है। परंतु इसे 'सरकारी हस्तक्षेप की अधिक आवश्यकता' भी है क्योंकि सरकार उन मुख्य कार्यकलापों को सक्षम रूप से निष्पाादित नहीं कर पाती है जो कि उसके अधिकार क्षेत्र में नहीं होते हैं। 'सरकारी हस्तक्षेप में कमी' और 'सरकारी हस्तक्षेप की अधिक आवश्यकता' को किस प्रकार संयुक्त किया जाए भारत के आर्थिक सुधारों की यही मुख्य चुनौती होगी।

मुझे ध्यान से सुनने के लिए आपका शुक्रिया।

सारणी 1
भारतीय बैंकों के दबावग्रस्त अग्रिम

(% कुल अग्रिम)

	मार्च 2008	मार्च 2014	मार्च 2017
सरकारी क्षेत्र के बैंक	3.5	11.6	15.6
निजी क्षेत्र के बैंक	4.2	4.2	4.6
विदेशी बैंक	3.0	4.0	4.5
सभी बैंक	3.5	9.8	12.1

स्रोत: भारतीय रिज़र्व बैंक

सारणी 2
भारतीय रुपए की वास्तविक प्रभावी विनिमय दर

(1993/94 = 100)	
1993/94	100.0
1994/95	104.9
1995/96	100.1
1996/97	99.0
1997/98	103.1
1998/99	94.3
1999/00	95.3
2000/01	98.7
2001/02	98.6
2002/03	96.0
2003/04	99.1
2004/05	98.3

(2004/05 = 100)	
2004/05	100.0
2005/06	102.0
2006/07	100.5
2007/08	109.2
2008/09	99.7
2009/10	104.5
2010/11	115.0
2011/12	113.2
2012/13	108.7
2013/14	105.5
2014/15	111.3
2015/16	114.4
2016/17	116.4
(एच1) 2017/18	120.5

नोट: आरईईआर सूचकांक 36 देशों के द्विपक्षीय निर्यात भारों पर आधारित है।
स्रोत: भारतीय रिज़र्व बैंक

चार्ट 1

वास्तविक प्रभावी विनिमय दर 1993-2004

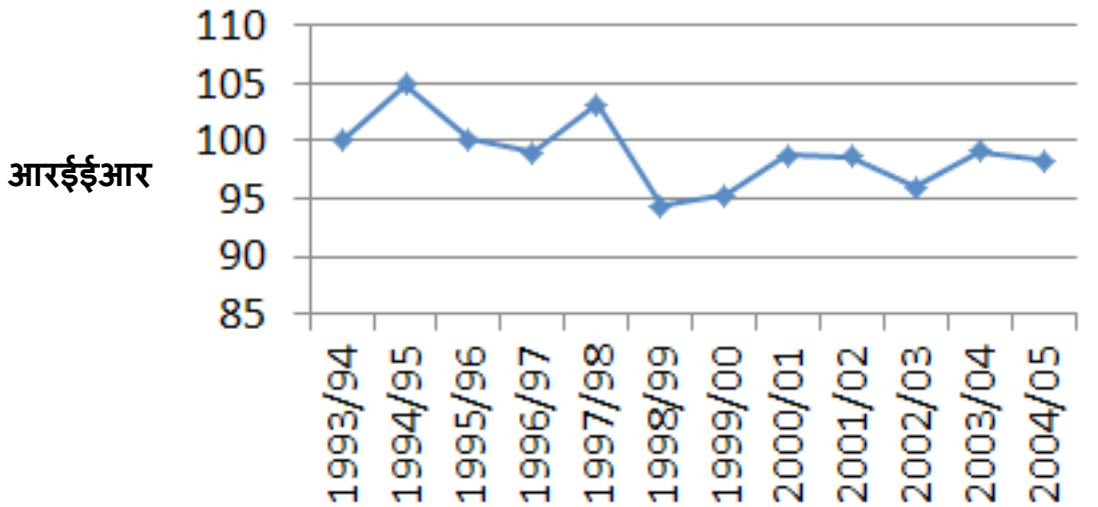

चार्ट 2

वास्तविक प्रभावी विनिमय दर 2004-2017